जनसत्ता

लोकपाल में देरी

भारत में लोकपाल संस्था के गठन को लेकर सालों से चली आ रही हीला-हवाली पर देश की सर्वोच्च अदालत ने कड़ा रुख दिखाया है। शीर्ष अदालत ने अब लोकपाल के अध्यक्ष और सदस्यों की नियुक्ति के लिए समय सीमा तय कर दी है। यह वाकई आश्चर्यजनक और दुखदायी है कि भ्रष्टाचार से त्रस्त भारत में लोकपाल का गठन अभी तक नहीं हो पाया है। देश-दुनिया में भ्रष्टाचार को लेकर भारत की छवि काफी खराब है और वैश्विक भ्रष्टाचार सूचकांक में भारत काफी नीचे आता है। ऐसे में भ्रष्टाचार पर लगाम के लिए तंत्र को नहीं बनने देना सरकार की मंशा को उजागर करता है। लोकपाल की मांग को लेकर 2011 में सामाजिक कार्यकर्ता अण्णा हजारे ने एक बड़ा आंदोलन किया था। तब लोकपाल बिल अस्तित्व में आया था। लेकिन आज भी लोकपाल की नियुक्ति नहीं हो पाई है। इससे यह पता चलता है कि भ्रष्टाचार की गंभीर समस्या से निपटने की कोशिशों के प्रति हमारी सरकार और तंत्र की सजगता का आलम क्या है!

सर्वोच्च अदालत ने लोकपाल के अध्यक्ष और इसके सदस्यों की नियुक्ति के लिए बनी सर्च कमेटी को निर्देश दिया है कि वह फरवरी के अंत तक सारे नामों को अंतिम रूप दे। इस कमेटी का गठन पिछले साल सितंबर में हुआ था। लेकिन हैरानी की बात यह है कि इस समिति की आज तक एक भी बैठक नहीं हुई। बैठक क्यों नहीं हुई, इसका जवाब केंद्र सरकार के अटॉर्नी जनरल ने शीर्ष अदालत में यह दिया कि कमेटी के पास काम करने के लिए दफ्तर और स्टाफ जैसी बुनियादी सुविधाएं नहीं हैं। ऐसा जवाब निहायत ही बचकाना और शर्मनाक है, क्योंकि अगर सरकार लोकपाल की सर्च कमेटी के लिए एक दफ्तर और कर्मचारियों का बंदोबस्त नहीं कर पाती है तो कैसे देश चला रही होगी, सोचा जा सकता है। करोड़ों-अरबों का बजट और हर तरह के संसाधनों व शक्तियों से परिपूर्ण सरकार के लिए एक छोटा-सा दफ्तर बनाना आखिर क्यों मुश्किल भरा काम हो गया? यह भारत के सरकारी तंत्र, नौकरशाही की संस्कृति और राजनीतिकों की इच्छाशक्ति को बताता है।

लोकपाल की नियुक्ति सरकार की शीर्ष प्राथमिकता होनी चाहिए थी। लेकिन पांच साल में इस दिशा में जिस मंथर गति से प्रयास हुए, उनसे लगता है कि लोकपाल गठन का काम प्राथमिकता में था ही नहीं। सरकार इसे लेकर अनिच्छुक ही रही। वरना सर्च कमेटी बनने में सालों क्यों लगे? मई 2014 में केंद्र सरकार बनने के बाद पैंतालीस महीनों में किसी के नहीं आने या बहिष्कार के कारण लोकपाल चयन समिति की बैठक तक नहीं हुई। आज देश में भ्रष्टाचार की जांच करने वाली सबसे बड़ी एजेंसी सीबीआइ खुद भ्रष्टाचार के आरोपों में संदेह में है। तमाम सरकारी महकमे और संस्थान, खासतौर से राज्यों में, भ्रष्टाचार के गढ़ बने हुए हैं। निचले स्तर पर छोटे-छोटे कामों के लिए आमजन को किस तरह से भ्रष्ट तंत्र से रूबरू होना पड़ा रहा है, यह किसी से छिपा नहीं है। देश के करीब आधे से कुछ ही कम ऐसे राज्य हैं जहां सरकारों ने लोकायुक्त का गठन ही नहीं किया है। भारत में लोकपाल और लोकायुक्त संस्था के गठन के लिए प्रयास 1968 से शुरू हुए थे, लेकिन 2013 में लोकपाल बिल मूर्त रूप ले पाया। चुनावों के वक्त सभी दलों के पास जनता से वोट हासिल करने के लिए भ्रष्टाचार ही सबसे बड़ा मुद्दा होता है। लेकिन विडंबना यह है कि भ्रष्टाचार से निपटने वाली संस्था के गठन में पांच दशक लग गए हैं। जाहिर है, कोई भी सरकार लोकपाल गठन का जोखिम मोल लेना नहीं लेना चाहती। इसलिए भारत के भ्रष्टाचार मुक्त होने को लेकर सवाल बना ही रहेगा।

रोजगार की हकीकत

राहुल लाल

लघु एवं मध्यम उद्योग भारतीय अर्थव्यवस्था में रोजगार की दृष्टि से काफी महत्त्वपूर्ण हैं। नोटबंदी ने सबसे ज्यादा कमर लघु एवं मध्यम उद्योगों की ही तोड़ी। भारतीय रिजर्व बैंक के अनुसार मार्च 2017 से मार्च 2018 के बीच इन उद्योगों की कर्ज न चुकाने की क्षमता में तेजी से गिरावट आई। मार्च 2017 तक कर्ज न चुकाने का मार्जिन 8249 करोड़ था, जो मार्च 2018 तक बढ़ कर 16111 करोड़ हो गया। नोटबंदी और जीएसटी से ही दो करोड़ से ज्यादा लोग बेरोजगार हुए हैं।

अर्थव्यवस्था के अनुपात में रोजगार के अवसरों का नहीं बढ़ना लंबे समय से चिंता का विषय बना हुआ है। वर्तमान में देश बेरोजगारी की गंभीर समस्या से जूझ रहा है। आर्थिक परिदृश्य पर नजर रखने वाली संस्था सेंटर फॉर मॉनिटरिंग इंडियन इकॉनोमी (सीएमआइई) की ताजा रिपोर्ट के अनुसार दिसंबर, 2018 में बेरोजगारी दर बीते सत्ताईस महीने में सबसे ज्यादा रही और 7.38 फीसद तक जा पहुंची। सरकार ने जहां सालाना दो करोड़ रोजगार सृजन का लक्ष्य रखा था, वहीं वर्ष 2018 में एक करोड़ से ज्यादा लोगों को बेरोजगार होना पड़ा। हालांकि बढ़ती बेरोजगारी से देश के शहरी और ग्रामीण दोनों हिस्सों पर असर पड़ा है, लेकिन ग्रामीण भारत पर प्रभाव ज्यादा है। रिपोर्ट के अनुसार ग्रामीण भारत में पिछले साल इक्यानवे लाख लोग बेरोजगार हुए, वहीं शहरी इलाकों में बेरोजगार होने वालों की संख्या अठारह लाख थी। इस तरह कुल बेरोजगारों में लगभग चौरासी फीसद ग्रामीण इलाकों से हैं। इस आंकड़े को कृषि संकट के साथ रख कर देखें, तो यह समझना मुश्किल नहीं है कि ग्रामीण अर्थव्यवस्था बेहद बुरे दौर से गुजर रही है। ग्रामीण क्षेत्रों में मांग हमारे उद्योगों के लिए बड़ा सहारा होती है, परंतु कृषि संकट के कारण ग्रामीण मांग पर नकारात्मक असर पड़ा है। अगर एक बार 2008 की वैश्विक मंदी की बात करें, तो उस समय ग्रामीण अर्थव्यवस्था की तीव्रतर मांग ने ही भारतीय अर्थव्यवस्था को मंदी से बचाया था। ऐसे में ग्रामीण अर्थव्यवस्था के महत्त्व को समझा जा सकता है। इसके अलावा देश की अधिकांश आबादी अब भी रोजगार के लिए कृषि पर ही निर्भर है, लेकिन कृषि संकट से यहां के भयावह माहौल को समझा जा सकता है।

सीएमआइई की रिपोर्ट के अनुसार पिछले साल बेरोजगार हुए लोगों में अट्ठासी लाख महिलाएं हैं। ग्रामीण इलाकों में पैंसठ लाख महिलाओं को बेरोजगार होना पड़ा, जबकि शहरी क्षेत्र में बेरोजगार होने वाली महिलाओं की संख्या तेईस लाख थी। बड़ी संख्या में महिलाओं के बेरोजगार होने से महिला सशक्तीकरण कार्यक्रमों को जबरदस्त धक्का लगा है। आर्थिक स्वतंत्रता ही महिलाओं को वास्तविक सशक्तीकरण प्रदान कर सकती है। बेरोजगारी बढ़ने के साथ श्रम भागीदारी दर का नीचे आना समस्या को और जटिल बना देता है। यह दर श्रम शक्ति अर्थात पंद्रह से चौंसठ साल आयु वर्ग के लोगों कुल संख्या में काम करने के इच्छुक लोगों और रोजगार में लगे या रोजगार पाने की कोशिश कर रहे लोगों की संख्या के अनुपात को इंगित करती है। दिसंबर, 2017 और दिसंबर 2018 के बीच इसमें एक फीसद से ज्यादा का अंतर रहा। इसका मतलब यह है कि घटते अवसरों की वजह से निराश लोग रोजगार की ओर उन्मुख नहीं हैं। नवंबर 2017 से ही रोजगार में गिरावट आती जा रही है। सबसे चिंताजनक मामला तो यह है कि रोजगार में गिरावट तब जारी है, जब श्रम बल बढ़ता जा रहा है। श्रम बल बढ़ने से आशय है कि काम के लिए ज्यादा लोगों की उपलब्धता बनना। नोटबंदी के बाद इसमें कमी आई थी। लोगों को काम मिलने की उम्मीद नहीं रही थी, इसलिए वे श्रम बाजार से बाहर हो गए थे।

रोजगार को लेकर कुछ और भी आंकड़े हैं जो समस्या की भयावह तस्वीर पेश करते हैं। वर्ष 2014-15 में आठ कंपनियों ने अपने यहां से औसतन दस-दस हजार लोगों को काम से निकाला था। इसमें निजी क्षेत्र और सरकारी कंपनियां दोनों थीं। वेदांता जैसी कंपनी ने तो उनचास हजार से ज्यादा लोगों को बाहर कर दिया था। जबकि सार्वजनिक क्षेत्र की कंपनी स्टील अथॉरिटी ऑफ इंडिया (सेल) ने तीस हजार से ज्यादा कामगारों की छुट्टी कर दी थी। दूरसंचार क्षेत्र की सरकारी कंपनी भारत संचार निगम लिमिटेड (बीएसएनएल) और तेल क्षेत्र की दिग्गज इंडियन ऑयल कारपोरेशन ने बारह-बारह हजार लोगों को बाहर का रास्ता दिखा दिया था। इस तरह केवल तीन सरकारी कंपनियों ने ही करीब पचपन हजार नौकरियां कम कर डालीं।

सीएमआइई की रिपोर्ट के मुताबिक 2013-14 में 1443 कंपनियों ने सड़सठ लाख रोजगार दिए, जबकि 2016-17 में 3441 कंपनियों ने चौरासी लाख रोजगार दिए। ये आंकड़े बताते हैं कि कंपनियों की संख्या में दोगुने से भी ज्यादा वृद्धि के बावजूद रोजगार के आंकड़ों में खास वृद्धि नहीं हुई। इसी तरह कर्मचारी भविष्य निधि संगठन (ईपीएफओ) के आंकड़े भी रोजगार को लेकर चिंतित करने वाले हैं।

सितंबर, 2017 से मई, 2018 के बीच कितने कर्मचारी इससे जुड़े हैं, इसकी समीक्षा की गई थी। पहले अनुमान बताया गया था कि इस दौरान पैंतालीस लाख कर्मचारी ईपीएफओ से जुड़े थे। समीक्षा के बाद इसमें 12.4 फीसद की कमी आ गई। इस तरह बाद में यह संख्या उनतालीस लाख हो गई।

लघु एवं मध्यम उद्योग भारतीय अर्थव्यवस्था में रोजगार की दृष्टि से काफी महत्त्वपूर्ण हैं। नोटबंदी ने सबसे ज्यादा कमर लघु एवं मध्यम उद्योगों की ही तोड़ी। भारतीय रिजर्व बैंक के अनुसार मार्च 2017 से मार्च 2018 के बीच इन उद्योगों की कर्ज न चुकाने की क्षमता में तेजी से गिरावट आई। मार्च 2017 तक कर्ज न चुकाने का मार्जिन 8249 करोड़ था, जो मार्च 2018 तक बढ़ कर 16111 करोड़ हो गया। नोटबंदी और जीएसटी से ही दो करोड़ से ज्यादा लोग बेरोजगार हुए हैं। ऑल इंडिया मैन्युफैक्चरिंग ऑर्गनाइजेशन के अनुसार जीएसटी से केवल लघु एवं मध्यम उद्योगों में पैंतीस लाख लोग बेरोजगार हुए हैं। इसमें असंगठित क्षेत्र के बेरोजगार लोगों को जोड़ दिया जाए तो आंकड़ा दो करोड़ तक पहुंच सकता है।

अर्थव्यवस्था को गतिमान बनाने के लिए आवश्यक है कि वह निर्यातोन्मुखी बने। लेकिन भारत का निर्यात लंबे समय से ठहराव की हालत में है। इस स्थिति में देश का कपड़ा उद्योग संपूर्ण अर्थव्यवस्था में जान फूंक सकता था। भारत में कृषि के बाद सबसे बड़ा रोजगार प्रदान करने वाला कपड़ा उद्योग लगभग साढ़े तीन करोड़ लोगों को रोजगार प्रदान करता था और निर्यात में इसकी भागीदारी 24.6 फीसद थी। लेकिन कपड़ा निर्यात में पिछले दो साल बहुत ही खराब रहे। क्लॉथिंग मैन्युफैक्चरर्स एसोसिएशन ऑफ इंडिया (सीएमआई) के आंकड़ों के अनुसार पिछले साल अप्रैल और मई में कपड़ा निर्यात पूर्व अवधि की तुलना में क्रमश:23 और 17 प्रतिशत गिरा। सरकार इसके कमजोर प्रदर्शन के लिए यूरोप और अमेरिका में मांग में कमी को मानती है। लेकिन अगर उदाहरणों को देखा जाए तो समस्या वैश्विक बाजारों की स्थिति की नहीं है, बल्कि उसका संबंध देश की परिस्थितियों से है। भारतीय कपड़ा उद्योग ढांचागत सुविधाओं की कमी से जूझ रहा है। हालत यह है कि कपड़ा उद्योग में भारत बांग्लादेश और श्रीलंका से भी पिछड़ गया है।

सरकार को समझना होगा कि रोजगार विहीन विकास हमें आर्थिक असमानता के गहरी खाई की ओर अग्रसर करेगा। हमें विकास को रोजगारपरक बनाना होगा। इसके लिए आवश्यक है कि सरकार रोजगार प्रदान करने वाले विशिष्ट क्षेत्रों की पहचान करे और उसे प्राथमिकता दे। उद्योग जगत की यह शिकायत भी है कि वस्तु एवं सेवा कर (जीएसटी) लागू होने के बाद से करों के मामलों में उसकी स्थिति कमजोर हुई है। कपड़ा उद्योग के साथ दिक्कत यह भी है कि हमारी फैक्टरियां प्रतिस्पर्धी देशों की तुलना में निहायत छोटी हैं। इससे लागत बढ़ती है। आंकड़े बताते हैं कि भारतीय अर्थव्यवस्था के स्वरोजगार में खासी कमी आई है और उसके स्थानों पर दिहाड़ी मजदूरों की संख्या में वृद्धि हुई है। एक तरफ जीडीपी तेजी से बढ़ रहा है, लेकिन रोजगार में वृद्धि तो दूर, कमी ही दिखाई दे रही है। तो फिर इसे रोजगार विहीन विकास कहना अनुचित नहीं होगा। आवश्यक है कि हम अपने विकास को रोजगारोन्मुखी बनाएं।

इंसाफ का रास्ता

पत्रकार रामचंद्र छत्रपति की हत्या के सोलह साल बाद आखिरकार इस घटना के दोषियों को सजा सुना दी गई। लेकिन इस मामले में करीब डेढ़ दशक के दौरान जिस तरह के उतार-चढ़ाव सामने आए, उनसे साफ है कि अगर आरोपी ऊंचे रसूख वाले व्यक्ति के रूप में जाना जाता है तो कई बार हमारा समूचा तंत्र उस पर लगे आरोपों के मामले में धीमी गति अख्तियार कर लेता है। हालांकि अक्सर हमारी न्याय व्यवस्था यह साबित करती है कि आरोपी का कद चाहे जैसा हो, थोड़ी देर भले हो, लेकिन कठघरे में खड़ा होने के बाद आमतौर पर इंसाफ सुनिश्चित होता है। दोषी गुरमीत राम रहीम को रामचंद्र छत्रपति की हत्या के मामले में गुरुवार को सीबीआइ की अदालत ने उम्रकैद और पचास हजार रुपए जर्माने की सजा सुनाई। उम्रकैद की सजा साध्वी से बलात्कार के मामले में मिली बीस साल की कैद पूरी होने के बाद शुरू होगी। यानी अब राम रहीम की पूरी जिंदगी शायद जेल में ही कटेगी। लेकिन अदालत के ताजा फैसले के बीच में किस तरह के अवरोध सामने आए होंगे, इसका अंदाजा रामचंद्र छत्रपति के बेटे अंशुल छत्रपति की बातों से लगाया जा सकता है। अंशुल छत्रपति के मुताबिक राम रहीम के खिलाफ हत्या का मुकदमा वापस लेने के लिए कई राजनीतिक दलों के नेताओं ने दबाव बनाया था। ऐसे में अगर वे मुकदमे को उसके अंजाम तक लेकर आए तो निश्चित रूप से उनके धीरज और हिम्मत की तारीफ की जानी चाहिए।

दरअसल, डेरा सच्चा सौदा के प्रमुख के रूप में गुरमीत राम रहीम ने अपने आभामंडल के प्रभाव का इतना ज्यादा विस्तार कर लिया था कि परदे के पीछे उसकी गैरकानूनी गतिविधियों तक के बारे में कोई बोलने वाला नहीं था। ऐसे में स्थानीय स्तर पर काम करने वाले एक पत्रकार रामचंद्र छत्रपति ने हिम्मत के साथ राम रहीम की गतिविधियों और उस पर लगे आरोपों को अपने अखबार 'पूरा सच' में प्रकाशित किया। तभी दुनिया के सामने सच्चाई सामने आ सकी। विडंबना यह है कि तब भी कई ऐसे लोग रहे होंगे, जो उसकी हकीकत जानते होंगे, लेकिन किसी ने राम रहीम के असली चेहरे को सामने लाने की हिम्मत नहीं की। यह स्थिति डेरा सच्चा सौदा के अनुयायियों से लेकर समाज पर थोपे गए शायद उस प्रभाव का नतीजा थी, जो कहीं आस्था और भक्ति के रूप में था तो कहीं अलग-अलग भाषाओं में दी जाने वाली धमकी की शक्ल में। बल्कि अब तक जैसा सच सामने उभर कर सामने आया है, उससे यह साफ है कि राम रहीम की धमकी केवल बातों तक सीमित नहीं थी, बल्कि किसी आपराधिक गिरोह की तरह उसे अंजाम भी दिया जाता था। एक ओर जहां उसने अपने आश्रम में मौजूद कुछ साध्वियों से बलात्कार किया और उन्हें चुप रहने पर मजबूर किया, वहीं इससे जुड़ी हकीकत को प्रकाशित करने वाले पत्रकार रामचंद्र छत्रपति की हत्या भी करवा दी।

अफसोस की बात यह है कि पिछले कुछ सालों में अध्यात्म और आस्था का कारोबार करने वाले कई बाबाओं की हत्या या बलात्कार जैसी आपराधिक गतिविधियों में संलिप्तता और उसके लिए अदालत से मिली सजा के बावजूद उनके अनुयायियों से लेकर समाज के बाकी हिस्से को सवाल उठाना जरूरी नहीं लगता। इस लिहाज से देखें तो रामचंद्र छत्रपति के बेटे अंशुल छत्रपति ने एक अहम बात कही है कि हमारे समाज में बचपन से ही धर्म, ऐसे बाबाओं और कथित संतों पर सवाल उठाना भी नहीं सिखाया जाता। जरूरत इस बात की है कि आस्था या भक्ति के नाम पर हकीकत की अनदेखी नहीं करके अपने विवेक से काम लिया जाए और वक्त पर सच पर पड़ा पर्दा हटाया जाए।

कल्पमेधा

अज्ञान बेफिक्री का पालना है और बेफिक्री सुख-चैन का बिस्तर। यह कथन उन लोगों के लिए ठीक है जो मुर्दों की तरह पैदा होते हैं और जड़ पदार्थों की तरह जिंदगी व्यतीत करते हैं।
-खलील जिब्रान

बाजार में त्योहार

सदानंद शाही

दुनिया मेरे आगे

जब से सोशल मीडिया का प्रभाव बढ़ा है, मेरे जैसे विशुद्ध आलसियों का जीवन नरक हो गया है। इसका अहसास हाल में ही बीती मकर संक्रांति के दिन जरा ज्यादा ही हुआ। दरअसल, पहले मकर संक्रांति, यानी खिचड़ी का मतलब नहाना और खिचड़ी, दही-चिउड़ा, तिलकुट खाना भर था। कई बार नहीं नहाने वाले लोग भी इस दिन जरूर नहाते हैं। मेरे एक मित्र हैं, जिनके लिए नारा लगता था- 'अमुक जी के तीन नहान, खिचड़ी, फगुआ औ सतुवान।' खैर, अब एक नया पेच फंस गया है- 'हैप्पी खिचड़ी' जैसे संदेशों का जवाब देने का। इस नए साल के मौके पर शुभकामनाओं का ऐसा रेला मोबाइल फोन में आया कि एक-एक का जवाब देते-देते दूसरा नया साल लग जाए। साल भले नया हो, वही मैसेज जब तेरह वाट्सऐप समूहों से घूमते हुए चौदहवीं बार आपके सामने नमूदार होता है तो जी करता है कि मुंह नोच लें।

गनीमत यही होती है कि किसका मुंह नोचना है, पता नहीं चलता। कभी-कभी शुभकामनाओं की सुनामी में ऐसे लोग भी शामिल पाए जाते हैं जो पिछले साल आपका 'गला काट' चुके होते हैं। तो कुछ मजबूरन और कुछ मसलातन नए साल की शुभकामना से निपटा ही था कि मकर संक्रांति आ धमकी। तरह-तरह की रंगीन पतंगों से लेकर दही-चिउडा, तिलकुट और अन्याय चीजों की दिलफरेब तस्वीरों से सजी शुभकामनाएं। पहले तो मन हुआ कि छोड़ दें। अभी तो सबको नए साल पर निपटाया है। मैंने खुद को जी भर कोस लिया और तुरंत 'मैसेज भेजो अभियान' में जुट गया। यह काम करते हुए सोचने लगा कि भारतीय दिमाग कितना बेहतरीन था त्योहारों के मामले में। कार्य विभाजन स्पष्ट होता था।

होली में हुड़दंग करना पुरुषों के जिम्मे, मुहल्ले भर के लिए गुझिया बनाना महिलाओं के जिम्मे। अब उनकी कमर रहे, चाहे जाए! सीधी हो या फिर टूट ही क्यों न जाए, उनकी बला से। दीपावली में जुआ खेलना और मंतर जगाना पुरुषों के जिम्मे और साफ-सफाई से लेकर तरह-तरह की सजावट करना महिलाओं का काम। ऐसे हजारों उदाहरण मिल जाएंगे। अब तो इस सोशल मीडिया के चक्कर में पत्नी भी कह देती है कि बैठे ही हो तो मेरे मैसेज भी निबटा दो। सो, दोनों हाथ में मोबाइल लिए मैसेज निबटाता हूं। चार के जवाब देते ही चौदह और हाजिर।

अब बस यही समझ में नहीं आ रहा कि मैं मैसेजों को निपटा रहा हूं या मैसेज ही मुझे निपटा रहे हैं। कभी-कभी सोचता हूं कि कौन खलिहर बैठा हर मौके के लिए मैसेज गढ़ता-बनाता रहता है। हमारे एक मित्र घर पधारे। मैं भारी उलझन में पड़ गया। सोच नहीं पा रहा था कि मित्र महोदय के आने से मुझे खुशी हुई या गम। उनके आने से 'मैसेज भेजो अभियान' में बाधा पड़ सकती थी, सो गम की स्थिति बन रही थी। वहीं एकरसता टूटने, कुछ गप-शप करके खुश होने की स्थिति भी थी। मैंने इस उलझन को अपनी जगह बने रहने दिया और बिना अपना हाथ रोके उन्हें बैठाया। बिना हाल-चाल पूछे थोड़ी देर पहले अपने मन में उठा सवाल उन पर दाग दिया- 'कौन खलिहर बैठा हर मौके के लिए मैसेज गढ़ता बनाता रहता है?' वे भी मेरी तरह अध्यापक हैं। फर्क इतना ही कि वे मार्केटिंग पढ़ाते हैं।

लिहाजा उन्हें भी सिर्फ प्रश्न पूछने की आदत थी, उत्तर देने की नहीं। वे अचकचाये। सहज होने में थोड़ा समय लिया और असली अध्यापक की तरह बोले- 'बंधु अब आप भी न! मार्केटिंग नहीं जानते नहीं हैं। जानते तो यह सवाल न पूछते!' असली अध्यापक की यह भी खासियत है कि उसे अगर कभी जवाब देना पड़ जाता है तो वह सबसे पहले सामने वाले को अज्ञानी साबित करता है। फिर जो बात तीन लफ्जों में खत्म की जा सकती है, उसे तेरह या तेईस लफ्ज में समेट कर रख देता है। यानी कान सीधे नहीं पकड़ कर घुमा कर पकड़ना। वे बोले- 'देखिए! पहले दुनिया न्यूटन के गति के नियम से चलती रही होगी, अब नहीं। अब दुनिया मार्केटिंग के नियम से चलती है। पहले आवश्यकता आविष्कार की जननी होती होती थी। लेकिन अब आविष्कार आवश्यकता की जननी है। जिस चीज का आविष्कार हो गया, वह थोड़े दिन में आवश्यकता कौन कहे, हमारी अनिवार्यता बन जाती है। मार्केटिंग गुरु कोटलर का महान कथन आपने सुना ही होगा कि जिसके सिर पर बाल नहीं हों, उन्हें कंघा बेचना ही मार्केटिंग है।'

मैंने बीच में टोका और कहा कि मैंने आपसे पूछा, मैसेज कहां बनते हैं और आप लगे मार्केटिंग पढ़ाने। त्योहारों का मार्केटिंग से क्या लेना-देना। वे एकदम खफा हो गए। बोले कि समझिए यह सब मार्केटिंग की ही देन है। जैसे लुभावने मैसेज आते हैं, वैसे ही लुभावने उत्पाद भी बाजार में आते हैं। हमारे मार्केटिंग गुरु ने परंपराओं, रीति-रिवाजों, स्वास्थ्य और यहां तक कि राष्ट्र आदि की मार्केटिंग पर किताब लिखी है। देखते नहीं कि मैनेजमेंट की पढ़ाई सबसे महंगी होती है। वहां यही सब सिखाया जाता है। सो, बात को समझिए। सब कुछ मार्केटिंग है। मेरा माथा घूम गया और मैं लगा भकुआ कर देखने!

शिक्षक का काम

सुरेश शॉ के लेख 'कमाई बनाम पढ़ाई' (14 जनवरी) में मौजूदा शिक्षा प्रणाली से जुड़ा एक अत्यंत संवेदनशील विषय उठाया गया है। भारतीय शिक्षा प्रणाली 2005 के बाद से लगातार 'मेरिटवादी' होती आ रही है। शिक्षक होने के लिए जरूरी है कि आदमी खुद को कक्षा के सबसे कमजोर बच्चे के लिहाज से तैयार करे जबकि शिक्षण के पेशे में आए मेरिटवादी लोग इस भावना से कोसों दूर होते हैं। बीते सालों के दौरान बच्चों में एक कुंठा उत्पन्न हो गई है क्योंकि उन्हें पढ़ाया नहीं जा रहा है बल्कि एक तरह से तैयार किया जा रहा है, ऐसी अनदेखी दौड़ के लिए जिसके आधार में छिपा कर रखा गया है- उज्ज्वल भविष्य का सपना।

शिक्षा-क्षेत्र में आजकल धनकुबेरों का राज है। पहले दाखिले के लिए पैसा दीजिए, फिर तरह-तरह के कार्यक्रमों के आयोजन के लिए पैसा दीजिए। यदि बालक अपनी मेहनत के बल पर उत्तीर्ण हो जाए तो बढ़िया वरना अयोग्य को योग्य घोषित करने के लिए भी इनके पास कई तरह के मार्ग रहते हैं। बात साल 2004 की होगी, मेरा एक जूनियर कक्षा ग्यारह में फेल हो गया। उस समय उसके पिता ने उसे कहा जो करना है करो, मैं तो किसी के पास नहीं जाऊंगा। तब हम दोनों ही मौजपुर के एक निजी स्कूल गए और अपनी दुविधा बताई। हमारी समस्या सुन लेने के बाद प्रधानाचार्य ने कहा था कि वैसे तो हम ऐसे बच्चों को अपने यहां दाखिला नहीं देते लेकिन यदि आप पंद्रह-बीस हजार की व्यवस्था कर सकें तो हम सीधे बारहवीं कक्षा में दाखिला दे देंगे। अब जहां ऐसे लोग मौजूद हों, वहां भला कैसे विद्वान छात्र पैदा होंगे!

शिक्षण के पेशे के काफी लोग अपने काम-धंधे भी लगे रहते हैं। शिक्षकों के सबसे ज्यादा पसंदीदा धंधों में, धंधे इसलिए कि काम तो उनका असल मायनों में पढ़ाना ही है, प्रॉपर्टी डीलिंग, प्राइवेट कॉचिंग, किराने की दुकान, जीवन बीमा, शेयर-मार्केटिंग, अपना स्कूल चलाना आदि शामिल हैं। दूसरी ओर, शिक्षा का बेड़ा गर्क करने में सरकार की नीतियों का ठीक प्रकार से कार्यान्वयन न होना भी है। 'नो डिटेंशन पॉलिसी' ने छात्रों के मन से फेल होने का भय खत्म कर दिया तो बालकों ने पढ़ना ही छोड़ दिया। परिणाम कम आने पर या फेल होने पर दोष शिक्षकों को दिया जाता है जबकि इसके असल जिम्मेदार नीति-निर्माता हैं। अभी तक नीति-निर्माता और सरकार ऐसी कोई नीति नहीं बना सके जिसमें शिक्षकों को केवल पढ़ाने का काम निर्धारित किया जा सके। खुद सरकार दुनिया भर के काम शिक्षकों से कराती है जिनमें जनगणना, बालगणना, चुनाव कार्य, क्षेत्रीय सर्वेक्षण, आर्थिक गणना आदि शामिल हैं। स्कूलों में मूलभूत सुविधाओं का अभाव है। उत्तर-पूर्वी दिल्ली के कितने ही स्कूल चार पालियों में चलते हैं। हर पाली में कुछ कक्षाएं अर्धावकाश से पहले और कुछ उसके बाद लगती हैं। ऐसे में जब पढ़ाई के लिए पूरा समय और संसाधन नहीं दिए जाते हैं तो पूरे परिणाम के अपेक्षा करना सरासर अन्याय है।

सरकारी स्कूलों में बड़ी संख्या बतौर अतिथि और अनुबंध पर काम करने वाले अध्यापकों की है जो हर समय नौकरी के न रहने के खतरे से आतंकित रहते हैं। ऐसे ज्यादातर अध्यापक कक्षाओं में भी प्रतियोगी परीक्षाओं की तैयारी करते मिल जाएंगे। शिक्षण के पेशे को अधिकांश लोग विकल्प के रूप में लेते हैं, ऐसे में वे पूरी तन्मयता से काम नहीं करते हैं। इस कारण वांछित परिणाम भी नहीं मिलते हैं। बहरहाल, कमाई बनाम पढ़ाई की यह जंग फिलहाल तो हल होती नहीं दिखाई देती।

● *अजय कुमार 'अजेय', करावल नगर, दिल्ली*

स्वयं से शुरू

हम स्वच्छ भारत या पर्यावरण की सुरक्षा की बात करते हैं तो अक्सर सबको सलाह देते हैं कि कूड़ा यहां-वहां मत फैलाओ, पर्यावरण को दूषित नहीं करो लेकिन खुद उस पर अमल नहीं करते। आवश्यकता है कि शुरुआत खुद से की जाए। तभी हम देश को सुधार सकते हैं। देश को बदलने से पहले हमें खुद को बदलना पड़ेगा।

● *अंजलि शर्मा, आंबेडकर कॉलेज, दिल्ली*

आतंक के साथ

जम्मू कश्मीर की पूर्व मुख्यमंत्री महबूबा मुफ्ती ने स्थानीय आतंकियों को इसी धरती का बेटा बताते हुए कहा कि उन्हें बचाने की कोशिश करनी चाहिए। उन्होंने यहां तक कह दिया कि जम्मू-कश्मीर से बंदूक की संस्कृति खत्म करने के लिए केंद्र को आतंकी नेतृत्व से बातचीत की पहल भी करनी चाहिए। क्या महबूबा को नहीं मालूम कि केंद्र सरकार ने कहा है कि जब तक पाकिस्तान आतंकी गतिविधियां बंद नहीं करता तब तक किसी भी सूरत में उससे बातचीत का माहौल नहीं बन सकता। इसमें दो राय नहीं कि आतंकवाद और बातचीत दोनों साथ-साथ नहीं चल सकते हैं। इस लिहाज से आतंकियों को धरतीपुत्र और धरोहर कहना वाकई अफसोसनाक है।

इंसानियत के नाते तो महबूबा मुफ्ती के बयानों को समझा जा सकता है लेकिन यह इंसानियत उस समय कहां चली जाती है जब घाटी में भारतीय जवानों पर हथगोले या पत्थर फेंके जाते हैं? आज जब सरकार आतंकियों के खिलाफ कार्रवाई कर घाटी में अमन-चैन का माहौल वापस लाना चाहती है तब वे आतंकियों को धरतीपुत्र कह रही हैं और उनसे बातचीत की वकालत कर रही हैं! महबूबा को मौजूदा हालात समझते हुए देश हित की बात करनी चाहिए। उन्हें सोचना चाहिए कि उनकी यह बात आतंकी हमलों में शहीद हुए देश के वीर सपूतों के परिजनों के लिए आहत करने वाली हो सकती है।

● *अमन सिंह, प्रेमनगर, बरेली, उत्तर प्रदेश*

सबका दायित्व

जलवायु परिवर्तन के इस दौर में सभी जागरूक नागरिक पर्यावरण को लेकर चिंतित हैं, लेकिन कई बार लापरवाहियां सरकारी तैयारियों और योजनाओं पर पानी फेर देती हैं। इसका ताजा उदाहरण ओड़िशा में देखने को मिला। यह राज्य पहले से ही जलवायु और स्वास्थ्य संबंधी दुर्दशाओं को लेकर चुनौती बना हुआ है। ऐसे में बेरहमी से बड़ी संख्या में पेड़ों को काटा जाना किसी के गले नहीं उतर रहा। इन्हें काटने से पहले न तो वन विभाग की अनुमति ली गई और न ही पर्यावरणीय हितों का ध्यान रखा गया। अधिकारियों के मुताबिक प्रधानमंत्री की यात्रा के सुरक्षा कारणों और हेलिकॉप्टर उतारने के लिए पेड़ों को काटा गया। बेशक, प्रधानमंत्री वहां विकास की योजनाओं के शुभारंभ के लिए गए लेकिन उनके सिपाहसालारों को तो पर्यावरण और अन्य नियम-कानूनों का ध्यान रखना चाहिए। पर्यावरण जैसे नाजुक मसले पर सभी का दायित्व एक समान होता है।

● *पवन कुमार मौर्य, नई दिल्ली*

किसी भी मुद्दे या लेख पर अपनी राय हमें भेजें। हमारा पता है : ए-8, सेक्टर-7, नोएडा 201301, जिला : गौतमबुद्धनगर, उत्तर प्रदेश

आप चाहें तो अपनी बात ईमेल के जरिए भी हम तक पहुंचा सकते हैं। आइडी है : chaupal.jansatta@expressindia.com